स्कूल / कक्षा में संवैधानिक मूल्यों का शिक्षण कैसे हो ?

इस अंक के लिए संवाद का विषय था – 'स्कूल / कक्षा में संवैधानिक मूल्यों का शिक्षण कैसे हो?' मूल संवैधानिक वायदों; सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता; प्रतिष्ठा और अवसर की समता; आदि पर बच्चों के साथ संवाद कैसे हो, ताकि बच्चे इन मूल्यों को समझ सकें। साथ ही यह भी समझ सकें कि लोकतंत्र के लिए इन मूल्यों के क्या निहितार्थ हैं, और उसमें उनकी क्या भूमिका हो सकती है। इस संवाद में शामिल थे– महमूद ख़ान, अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन, जयपुर; मनोहर चमोली, शिक्षक, पौड़ी गड़वाल, उत्तराखंड; अब्दुल कलाम, अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन, खरगोन, मध्य प्रदेश; अमन मदान, प्राध्यापक, अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय, बेंगलूरु; और मयंक मिश्रा, अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन, रायपुर, छत्तीसगढ़। –सं.

रजनी : आप सभी का स्वागत है। मैं पहला सवाल रखती हूँ। संवैधानिक मूल्यों से क्या आशय है?

महमूद : संवैधानिक मूल्यों को कैसे समझें और कैसे समझाएँ, यह चुनौतीपूर्ण है। संविधान की उद्देशिका में भाईचारा, समानता, स्वतंत्रता, न्याय, आदि की बात है। इन्हें ही हम संवैधानिक मूल्यों के रूप में पहचानते हैं। संविधान में एक ऐसे समाज की कल्पना है जिसमें ये सारी चीज़ें हों। लेकिन दैनिक जीवन में जो घटनाएँ, घटित होती हैं तब बार-बार सवाल खड़ा होता है कि इनके मायने क्या हैं? 1959 के आसपास बनी एक फ़िल्म थी जिसमें सुनील दत्त शिक्षक की भूमिका में थे। वे बच्चों के सामने संविधान में अपेक्षित भारत की तस्वीर रखते हैं। उनकी कक्षा के बच्चे भाषा की तकरार, ऊँच-नीच, जात-पात पर सवाल उठाते हैं। वे पूछते हैं कि आप जिस भारत की बात कह रहे हैं वो तो कहीं दिखाई देता नहीं है। आज भी कक्षा में काम करते हुए, एक बड़ा सवाल प्रश्न चिह्न के रूप में सामने नज़र आता है कि रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में इन मूल्यों के मायने क्या हैं?

चित्र 1 : हीरा धुर्वे

रजनी : मयंक, आप इन मूल्यों को कैसे समझते हैं?

मयंक : हम लोगों ने अपनी स्कूली ज़िन्दगी में संविधान और संवैधानिक मूल्यों को पढ़ा है। लेकिन, उन शब्दों को रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में व्यवहारों के तौर पर समझ पाना एक कठिन टास्क है। कई मर्तबा ऐसा भी होता है कि हम स्कूल में पढ़ी गई परिभाषाओं व उन आशयों के सहारे आगे बढ़ने के आदी हो चुके होते हैं। इसके चलते, हम अपनी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में छोटी-छोटी जगहों पर इन मूल्यों को मुक़म्मल होता या नहीं होता हुआ देखते हैं। दोनों ही परिस्थितियों में हम कुछ नहीं कर पाते। मुक़म्मल होने पर हम उन्हें सराह नहीं पाते, और न होने पर सवाल खड़े नहीं कर पाते। उदाहरण के लिए, हमारे सामाजिक तौर-तरीक़े, व्यवहारिक कौशल, लोगों के साथ हमारा बर्ताव, उस बर्ताव का पैटर्न, इन सभी में हमारी संवैधानिक मूल्यों के साथ संगतता / गैर-संगतता परिलक्षित होती है। मुझे कई बार यह लगता है कि इन मूल्यों की परिभाषा समझने के बजाय हम इन्हें इन इंडीकेटरों के माध्यम से समझने की कोशिश करें।

मनोहर : स्कूल में संवैधानिक मूल्यों की बात कभी हमारे साथ सीधे की गई हो, याद नहीं पड़ता। बहुत बाद में, जब सामाजिक संस्थाओं से जुड़े तब मालूम चला कि संवैधानिक मूल्य कितने ज़रूरी हैं। हालाँकि, मुझे हमेशा ऐसा लगता है कि एक मनुष्य होने के तौर पर हमारे अन्दर मनुष्यता होनी चाहिए। मेरे ख़्याल से वो ही संवैधानिक मूल्य है। स्कूल में, पाठ्यपुस्तक में एक ख़ास तरह की बात होती है। बच्चे जिन घरों से आते हैं वहाँ उनके मूल्य कुछ और हैं, और शिक्षक उनके साथ एक अलग तरीक़े से बातचीत करते हैं। रोज़ प्रात:कालीन सभा से स्कूल की छुट्टी होने तक और छुट्टी के बाद भी संवैधानिक मूल्य बार-बार हमारे और बच्चों के सामने आते हैं। जैसे– प्रार्थना सभा में सभी बच्चों को समान अवसर मिलना, कक्षा में बच्चों का रोटेशन में बैठना या नहीं बैठना, होशियार या कमज़ोर बच्चे आदि। सभी बच्चों को, हमारे साथियों को हम बराबरी से देखें तभी मेरे ख़्याल से लोकतंत्र में हमारी आस्था होगी।

अब्दुल : मनोहरजी ने रेखांकित किया है कि पाठ्यपुस्तकों में कुछ परिभाषाओं के साथ मूल्यों

चित्र 2

चित्र 3 : हीरा धुर्वे

चित्र 4 : हीरा धुर्वे

के बारे में सुनते-समझते हैं, लेकिन व्यक्तिगत तौर पर ये मूल्य बहुत कुछ व्यवहार में परिलक्षित होते हैं। जैसे– मेरे घर के लोगों का दूसरों को देखने का नज़रिया क्या है, या जो आसपास घटनाएँ हो रही हैं, उनको देखने का क्या नज़रिया है। जब उन नज़रियों के साथ हम उन चीज़ों को समझने के लिए अपना नज़रिया बनाते हैं, तब शायद हम उन मूल्यों को भी अपने जीवन में आत्मसात करते हैं। संवैधानिक मूल्य जिस तरीक़े से परिभाषित हैं, जिस तरह से स्कूलों में इनकी व्याख्या प्रस्तुत होती है वो न तो समझ आती है, न लोगों को जोड़ पाती है। इसके विपरीत, आपसी सहयोग, मेल भाव, मिलना-जुलना, दूसरे को देखकर सहजता से अपनी बात कहना, ये सभी सरल भी हैं और मूल्यों से सीधे जुड़ते भी हैं। लेकिन जब हम उनको बन्धुत्व, सम्प्रभुता की तरह से रखते हैं और उनपर कोई बातचीत नहीं करते कि ये हैं क्या, तो विद्यार्थी के लिए, और हमारे लिए भी, यह समझना बड़ा मुश्किल हो जाता है कि वास्तव में मूल्य हैं क्या? तब हम इनको समझते नहीं हैं, पढ़ रहे होते हैं।

रजनी : यह सही है कि स्कूल में बच्चों से इन मूल्यों के सन्दर्भ में अर्थपूर्ण बात नहीं होती। पाठ्यपुस्तक में इनकी परिभाषाएँ या संक्षिप्त व्याख्या होती है जिसे याद करना होता है। विद्यार्थी कक्षा बारहवीं तक मूल अधिकार, कर्तव्य, धर्मनिरपेक्षता, समता, बराबरी आदि के बारे में पढ़ सकते हैं लेकिन केवल परीक्षा के लिए। एक लोकतांत्रिक देश / समाज के सन्दर्भ में ये क्यों ज़रूरी हैं, इसपर कोई बात नहीं होती। हाँ, ये बातचीत होती है कि किसी इंसान के साथ ख़राब व्यवहार नहीं करना चाहिए, उसे नीचा नहीं दिखाना चाहिए, या अगर कोई बात कर रहा हो तो उसकी बात सुनना चाहिए। बारहवीं के बाद जब हम उच्च शिक्षा में जाते हैं, वहाँ विषय चयन करते हैं और इसके बाद कुछ अनुशासनों में तो इनपर बातचीत ही बन्द हो जाती है। गणित, विज्ञान जैसे विषय में कोई स्कोप नहीं है कि इन मूल्यों पर व्यवस्थित बातचीत के मौक़े मिलेंगे। हालाँकि, जीने के तरीक़े में संवैधानिक मूल्यों को देखें तो वहाँ उनकी परिभाषाएँ वैसी नहीं हैं

चित्र 5

जैसी दस्तावेज़ों में दिखती हैं, लेकिन मनुष्यता की समझ में वे हैं।

रजनी : अगला सवाल है संवैधानिक मूल्यों के मसलों व निहितार्थों के बारे में बच्चे कुछ पूर्वधारणाएँ व समझ लेकर स्कूल आते हैं। ये पूर्वधारणाएँ और समझ किस तरह की होती हैं?

महमूद : मैं एक अनुभव रखता हूँ। नवीं कक्षा के शहरी बच्चे हैं। इनके साथ संविधान वाले अध्याय पर काम करना था। पहले दिन उनसे परिचय करने के बाद पहला टास्क था– आसपास किस-किस तरीक़े के नियमों में हम अपने-आप को बँधा हुआ पाते हैं। नियमों की एक लम्बी-सी सूची बच्चों ने बना दी– जूते घर के आँगन के बाहर उतारने हैं, बड़ों की इज़्ज़त करनी है, लड़की अकेली घर से बाहर नहीं जाएगी, घर में जो बना है वही सब लोग खाएँगे। कुछ बच्चों ने कहा कि स्कूल में सब स्कूल यूनिफ़ॉर्म में आएँगे, पंक्तिवार कक्षा में जाएँगे, कक्षा के बाहर सभी बच्चे लाइन से अपने जूते उतारेंगे, होमवर्क सबको करना है, आदि। कुछ ऐसे नियम भी बताए कि सड़क पर बाएँ चलना चाहिए, अगर सड़क पर कोई दुर्घटनाग्रस्त है तो उसकी मदद करनी चाहिए। मैंने पूछा कि ये बहुत अलग-अलग तरह के नियम हैं, इनके आधार कहाँ से आ रहे हैं, ये नियम कहाँ और कौन बनाता है? उन्होंने बताया कि कुछ नियम परिवार के लोग, परिवार का मुखिया बनाता है और उनका आधार हमारी परम्पराएँ और रीति-रिवाज हैं। मैंने कहा कि अपने देश के सन्दर्भ में भी बहुत सारे नियम हैं और वे संविधान में दिए गए हैं। हमने पाठ्यपुस्तक में दी गई संविधान की उद्देशिका को पढ़ा और उसपर चर्चा की। फिर मैंने बच्चों से पूछा कि इनमें से किस नियम को बुनियादी कह सकते हैं। बच्चे नहीं बता पाए। तब मैंने पूछा कि मान लीजिए, आपको कक्षा का मॉनिटर चुनना है तो क्या नियम होगा जिसे आप बदलना नहीं चाहेंगे, चाहे परिस्थिति कोई भी हो वो नियम ज़रूरी होगा। दस-पन्द्रह मिनट के बाद बच्चे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सबको मॉनिटर का चुनाव लड़ने का अधिकार होगा। मज़ेदार बात ये हुई कि जब मॉनिटर के लिए कुछ बुनियादी योग्यताएँ बनाईं, उसमें सिर्फ़ दो ही चीज़ें उभरकर आ रही थीं कि वो इंटेलीजेंट हो और कक्षा को अनुशासन में रख सकता हो।

रजनी : हम संवैधानिक मूल्यों, बराबरी, समता, धर्मनिरपेक्षता, आदि की बात कर रहे हैं। इनके सन्दर्भ में बच्चे अपने घरों से या जिस समाज में वो रहते हैं वहाँ से किस तरह की समझ लेकर आते हैं?

मनोहर : बच्चे अपने परिवेश व समाज से धारणाएँ लेकर आते हैं। मसलन, कुछ बच्चों में अलग रहने का स्वभाव दिखाई देता है। कुछ को लगता है कि इसके घर का खाना मेरे घर के खाने से अलग है, लेकिन कुछ बच्चे शेयरिंग भी करते हैं। जब स्कूल में हम उनसे बात करते हैं तो कई बार वो चौंकते भी हैं कि क्या हमें

ऐसा होना चाहिए? या हम ऐसे हैं तो क्या हमारे अन्दर कुछ गड़बड़ है?

अब्दुल : एक स्तर की समझ बच्चों के पास होती है। उदाहरण के लिए, मेरा अनुभव है कि सभी बच्चे बहुत केयरिंग होते हैं। शुरुआती स्तर के बच्चों में इस तरीक़े के विभेद नहीं दिखते कि उनको सिर्फ़ लड़कों के साथ ही खेलना है या लड़कियों के साथ। लेकिन यह भी सही है कि अगर किसी बच्चे ने यह अनुभव किया है कि मेरे घर कोई रोटी माँगने आता है तो उससे कैसा व्यवहार किया जाता है, या मैं लड़का हूँ तो कैसा व्यवहार किया जाता है, या फ़लाँ धर्म / जाति के बच्चों से दूर रहना है, उनके साथ नहीं खेलना है, तो उसकी धारणाएँ कुछ और तरह से बनेंगी ही। यदि शुरुआती स्तर पर इस सन्दर्भ में बच्चों से बातचीत नहीं हो तो आगे की कक्षाओं में हम जितनी भी समता की बात कर रहे होंगे तब भी वह डिफ़ेंसिव मोड में ही रहेगा। अकसर हम देखते हैं कि बच्चे चोट लगे जानवर की देखभाल में पूरा समय लगा देते हैं, कोई गिर गया हो तो उसकी मदद कर रहे होते हैं, खेल खेलते हुए नियम भी ख़ुद बनाते हैं, तोड़ते भी हैं और उसको सुलटाते भी हैं। सारे मसले को वो एक खेल के दौरान ख़ुद ही सुलझा लेते हैं। यह समझ इन संवैधानिक मूल्यों से जुड़ती है। लेकिन इस समझ का न तो कक्षा में शिक्षक इस्तेमाल कर पाते हैं, न ही घरों में बच्चों से ऐसे वाक़यों पर बात होती है। इस गैप की वजह से ही कक्षा में समता, समानता, धर्मनिरपेक्षता और दूसरे मूल्यों को समझाने पर बच्चे कनेक्ट नहीं कर पा रहे होते हैं। जिस विविधता और विभिन्नताओं में वे बचपन में अपने दोस्तों के साथ खेले हैं वही चीज़ें आगे जाकर समाज में दिख रही होती हैं।

रजनी : मयंक, आप कुछ कह रहे थे?

मयंक : कुछ निश्चित मान्यताओं को मानना और साथ-ही-साथ उन मान्यताओं का स्कूल की प्रक्रियाओं के साथ या तो ख़ारिज होना या फिर और ज़्यादा मज़बूत हो जाना, ये दोनों बहुत अहम हिस्से हैं। चूँकि घर, समाज, स्कूल में जिस तरह से परवरिश होती है, उसमें स्वाभाविक रूप से बच्चों की जेंडर, धार्मिक विश्वास और सामाजिक स्तर से सम्बन्धित मान्यताएँ बनती हैं। ये सभी मान्यताएँ बच्चों के साथ स्कूल में आ रही हैं। लेकिन स्कूल

चित्र 6

एक ऐसी जगह भी है जिसको यह तय करना है कि कौन-सी धारणाएँ आगे जानी चाहिए और कौन-सी धारणाएँ यहीं ख़ारिज होंगी। इन धारणाओं को मैं दो-तीन वर्गों में रखता हूँ। बहुत-सी धारणाएँ व्यक्ति / बच्चे की पहचान और अस्मिता से जुड़ी होती हैं। मसलन, मेरे स्कूल के शिक्षक, दोस्त, साथ में पढ़ने वाले एक इंसान (इंडिविजुअल) के तौर पर मुझसे कैसे व्यवहार करते हैं। जैसे– बच्चों पर सभी के सामने चिल्लाना या उन्हें डण्डे से मारना। यह बच्चे की पहचान और अस्मिता को प्रभावित कर रहा होता है। ऐसे मान्यताएँ भी होती हैं जिनको हम पारम्परिक तौर पर समझते हैं। मसलन, जेंडर भूमिकाएँ, धार्मिक विश्वास से जुड़े मसले, और किस सामाजिक स्तर से आने वाले व्यक्ति के साथ कैसे पेश आया जाएगा! मैं उदाहरण देता हूँ। मैं अभी हाल ही में एक ऐसे स्कूल में गया, जिसको सरकार ने इंग्लिश मीडियम स्कूल में कन्वर्ट कर दिया है। अब बहुत सारे उच्च स्तर के अभिभावकों, शिक्षक, सरकारी कर्मचारियों ने अपने बच्चों का दाख़िला वहाँ करा दिया। इससे यह हुआ कि अधिकांश ऐसे बच्चे स्कूल में ख़ुद का टिफ़िन लेकर जा रहे हैं। पहले सभी बच्चे साथ बैठकर खाते थे, लेकिन धीरे-धीरे इन बच्चों ने बाक़ी बच्चों के साथ मील शेयर करना बन्द कर दिया। एक दूसरे के पास में बैठने की प्रेक्टिस भी वहाँ ख़त्म हो गई। यहाँ सामाजिक-आर्थिक स्तर से जुड़ी धारणाएँ स्कूल में आ रही हैं। ये समाज और इसकी विविधता से जुड़े मसले हैं जो स्कूल में आते हैं।

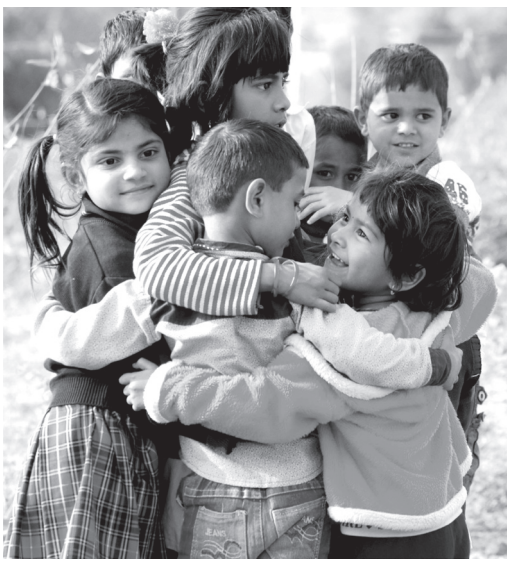

चित्र 7 : कालू राम शर्मा

तीसरे क़िस्म का मसला एक कोलेबोरेटिव और समावेशी स्कूल संस्कृति की तरफ़ ले जाता है। अभी बन्धुत्व की बात हम कर रहे थे। मेरे स्कूल के शिक्षक ऐसे अभ्यास भी मुझे देते हैं जहाँ दूसरों की मदद से उनको करने की ज़रूरत पड़ती है। ऐसे मौक़े गढ़ना और बच्चों को एक दूसरे की मदद के लिए प्रोत्साहित करना इनसे बच्चे मूल्यों को समझ सकते हैं। मुझे लगता है कि ऐसे कई तरीक़े हो सकते हैं जिनमें मूल्यों के सन्दर्भ में शारीरिक, दिमाग़ी और भावनात्मक पहलुओं से जुड़े मसलों पर बातचीत की जा सकती है। कुछ मसले प्रचलित सामाजिक रूढ़ियों से जुड़े हुए हैं तो कुछ ऐसे हैं जो कोलेबोरेटिव और समावेशी संस्कृति को रेखांकित करते हैं। इन तीनों को विस्तार दिया जा सकता है और देखा जा सकता है कि कौन-से मूल्य किस खाँचे में फ़िट हो सकते हैं।

रजनी : क्या समाज इन मूल्यों की समझ में अड़चन बनकर ही आता है। समाज को बेहतर करने में स्कूल कैसे मदद कर सकता है?

महमूद : राजस्थान में फ़्यूडल सिस्टम बहुत रहा है। आज भी इसका प्रभाव कई सारे स्कूलों में देखने को मिलता है। कक्षाओं में कुछ बच्चे दरी-पट्टी लेकर पीछे बैठे हुए होते हैं, ख़ासकर पश्चिमी राजस्थान में। बात करने पर पता चलता है कि कथित छोटी जाति के बच्चे हैं इसलिए पीछे बैठे हैं। शिक्षक कहते हैं कि पढ़ा तो हम सभी को एक-सा रहे हैं। लेकिन बैठक व्यवस्था ऐसी ही करनी होगी, नहीं तो बाक़ी बच्चे स्कूल नहीं आएँगे। हमको समाज में भी जवाब देना होता है। पाठ्यपुस्तक पढ़ते हुए

शिक्षक कहते हैं कि हम सब बराबर हैं, लेकिन असल में शिक्षक भी बराबरी का व्यवहार नहीं करते हैं। मसलन, राजस्थान के कई स्कूलों में अनुसूचित जाति के शिक्षकों-बच्चों का पानी का मटका अलग मिलेगा। स्टाफ़रूम में उनके बैठने की जगह अलग होगी। बच्चे यह देखते हैं कि पढ़ने का मामला, परीक्षा की तैयारी आदि अलग है, और ज़िन्दगी कुछ अलग तरीक़े से जीनी है। लेकिन सबकुछ काला है, ऐसा भी नहीं है। ऐसे शिक्षक भी हैं जो संवेदनशील हैं, और इन मुद्दों की समझ रखते हैं। वे रोज़मर्रा की ज़िन्दगी के उदाहरणों को लेकर समानता, न्याय, बराबरी और इनके मायने क्या हैं, इनकी बात करते हैं।

चित्र 8

मनोहर : जो बातचीत मैं सुन रहा हूँ, उससे लगता है कि सारी ज़िम्मेदारी शिक्षक की है। मैं मानता हूँ कि शिक्षक बहुत गहरी भूमिका निभाते हैं। हाल ही में, कक्षा 6 में पढ़ने वाले बच्चे आपस में लड़ रहे थे। जब कक्षा में जाकर पूछा कि क्यों लड़ रहे हो, तो बच्चे कहते हैं इस बच्चे ने कहा कि तुम छोटी जात के हो, मुझसे दूर रहो। मैं दंग रह गया। मेरे स्कूल में पन्द्रह शिक्षक हैं, हमारा सबका सद्भाव है तब ये बच्चा कहाँ से इस तरह की बातें ले आया? थोड़ा खँगाला, तो पाया कि बच्चे दोहरी भूमिका में स्कूल आते हैं। उन्हें पता है कि स्कूल के बाहर हमें कैसा जीवन निर्वाह करना है। स्कूल में, सभा में, मिड-डे मील में हम सब साथ बैठते हैं। बच्चा कहता है कि यहाँ तो हम खा लेते हैं, पर ये हमारे घर में नहीं खा सकते या हम इनके घर में जाकर नहीं खा सकते। तब हम बातचीत करते हैं पर ज़्यादा क्रान्तिकारी क़दम नहीं उठा सकते, नहीं तो प्रतिक्रिया गाड़ियों को तोड़ने या उन्हें सड़क से नीचे फेंकने जैसी हो सकती है। बहुत सारे दबाव अभिभावक हमको देते हैं। वो कहते हैं कि गुरुजी, आप अपना काम कीजिए, इन घर की चीज़ों पर आप हस्तक्षेप मत कीजिए। घर से स्कूल के रास्ते में बहुत संवेदनशील मसले हैं, जहाँ न चाहते हुए भी कभी-कभी चुप होना पड़ता है। जो पहल करके इन चीज़ों को बदलने की बात करते हैं उनके साथ भी बहुत सारी दिक़्क़तें हो जाती हैं। हम वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर चर्चा, बेटी करे सवाल और भी ऐसी कई किताबों को पढ़ना और उनपर चर्चा करते हैं। इससे बदलाव तो आ रहा है लेकिन इसकी गति बहुत धीमी है। इसलिए शिक्षक केवल पाठ पढ़ाता है, इन मूल्यों पर बात नहीं कर पाता, यह कहना ठीक नहीं है। चूँकि छुट्टी के बाद बच्चा अपने गाँव में जा रहा है, वहाँ वह इन बातों को दृढ़ता के साथ नहीं कर पाता।

रजनी : अब्दुल, आप अपनी बात रखें।

अब्दुल : मैं इसे समाज के द्वारा अड़चन तो नहीं, पर समाज में मौजूद विविधता कहूँगा। विविधता समाज में है। इसका बेहतर तरीक़े से इस्तेमाल कर हम मूल्यों तक ले जा सकते हैं। स्कूल अपने-आप में एक छोटा समाज है। मैं मनोहर की बात से सहमत हूँ कि अकेले शिक्षक की ज़िम्मेदारी नहीं है। लेकिन साथ में यह भी ज़रूर कहूँगा कि अगर मुझे चार क़िस्म के समाज के साथ रहने और उनकी प्रक्रियाओं को

समझने का एक्सपोज़र मिलेगा तब मेरा नज़रिया व्यापक होगा ही। लेकिन अधिकांश बच्चे बेहद लिमिटेड एक्सपोज़र के साथ पलते-बढ़ते हैं। एक शिक्षक और पढ़े-लिखे अभिभावक, जो एक्सपोज़र के साथ आते हैं, उनकी ज़िम्मेदारी है कि बच्चे अन्य समाजों और ग़ैर-बराबरी के बारे में जान पाएँ। एक चर्चा का ज़िक्र करूँगा। शिक्षकों के साथ बातचीत में हमने कहा कि आप अपने समाज में जो बदलना चाहते हो, उसकी सूची बनाएँ। जाति व्यवस्था, धर्म के आधार पर भेदभाव, लिंग के आधार पर भेद, ऐसी एक लम्बी सूची बन गई। फिर कहा कि स्कूल में क्या चीज़ें आपको बदलनी हैं, तो सभी ने इस सूची में व्यवस्थागत बिन्दु लिखे। चाहे वो खेल के दौरान, सांस्कृतिक कार्यक्रमों, कुछ चुनिन्दा बच्चों को अवसर देने की बात करें या अपने स्टाफ़ के शिक्षक साथी या महिला साथियों के साथ व्यवहार की बात। माने स्कूल में जिस तरीक़े से काम किए जाने की बात है, वो बहुत लिमिटेड है। पर मुझे ये भी लगता है कि शायद इन छोटे प्रयासों से ही बड़े मूल्य के बदलाव तक पहुँच सकते हैं। यह भी कि, मुझे स्कूल की ज़िम्मेदारी ज़्यादा लगती है क्योंकि एक्सपोज़र देने और विविधता को सराहने के अवसर एक शिक्षक और स्कूल ज़्यादा बेहतर तरीक़े से दे सकता है।

महमूद : शिक्षक की पहल का उदाहरण देना चाहूँगा। टोंक में स्कूल को भी शादी-ब्याह में आमंत्रित किया जाता है। एक कथित बड़ी जाति के यहाँ शादी में स्टाफ़ और बच्चे गए थे। वहाँ अन्य जाति के बच्चों को अलग बिठाया तो शिक्षक ने कहा कि बच्चो, उठ जाओ! उन्होंने कहा कि देखिए, आपने पूरे स्कूल को बुलाया है न कि किसी जाति या किसी व्यक्ति को। ये मेरा परिवार है। मैं इनके साथ बैठकर खाऊँगा या ये मेरे साथ बैठकर खाएँगे जहाँ आप मुझे बिठाएँगे। मैं कहीं अलग और बच्चे कहीं अलग बैठें, ऐसा नहीं हो सकता। और बाद में सभी ने एक ही पण्डाल खाना खाया।

रजनी : इन विरोधाभास और द्वन्द्व को ध्यान में रखते हुए, शिक्षकों की तैयारी किस तरह की हो ताकि वो स्कूल में इन सारी चीज़ों की अहमियत को भी समझें और इनपर काम भी कर सकें।

मनोहर : यह महत्त्वपूर्ण सवाल है। जब भोपाल गैस काण्ड हुआ तब हमें अखिल

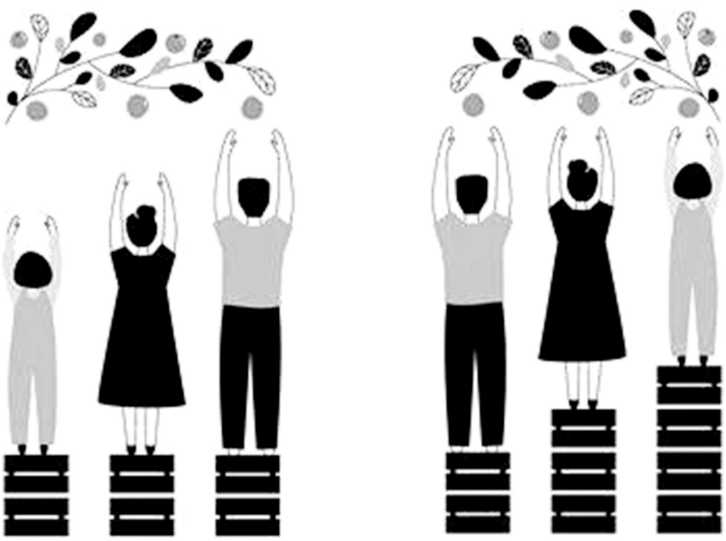

चित्र 9

भारतीय जन विज्ञान संघ के साथ जुड़ने का मौक़ा मिला। गैस काण्ड पर कही गई बातें, उठाए गए सवाल जायज़ और मनुष्यता से जुड़े लगे। कोरोना काल ने भी एहसास कराया कि स्कूल व अध्यापकों की भूमिका कितनी महत्त्वपूर्ण है। अकसर प्रातःकालीन सभा में हम पाते हैं कि क्या हम सब बच्चों को प्रार्थना के, समाचार पढ़ने या कुछ कहने के बारी-बारी से अवसर दे रहे हैं! कक्षा व्यवस्था कैसी है, क्या लड़के-लड़कियाँ साथ बैठते हैं, बारी-बारी से आगे-पीछे बैठते हैं, और खाना साथ बैठकर खाते हैं? क्या हम बच्चों की बात सुनते हैं? उनको प्रश्न करने का मौक़ा देते हैं? और ऐसा क्यों होना चाहिए यह भी शिक्षा तैयारी का हिस्सा हो। मुझे यह भी लगता है कि सिर्फ़ पढ़ाने से काम नहीं चलेगा, सिर्फ़ रजिस्टर भर देने या कक्षा अध्यापकी से काम नहीं चलेगा, और इससे भी काम नहीं चलेगा कि अपनी छुट्टी हुई और अपने घर आ गए। लगातार सम्पर्क करने, बातचीत करने से चीज़ें बदलेंगी।

चित्र 10

रजनी : मयंक, आप कहें?

मयंक : शिक्षकों पर दबाव की बात कही गई थी, यह काफ़ी वाज़िब है। शिक्षक तैयारी के सन्दर्भ में मुझे लगता है कि बेहतरी के क़दम मौजूदा ज़मीन पर टिके होंगे तो वो ज़्यादा बेहतर होंगे। जैसे– अभी इन मूल्यों को हम कैसे समझते हैं और इनको सीखने-सिखाने के तरीक़ों व स्कूल की अन्य प्रक्रियाओं में कैसे शामिल करते हैं। मूल्यों के बारे में नज़रिया यह तय कर देता है कि स्कूल की प्रेक्टिसेस की क्या शक्ल होगी। सामाजिक प्रक्रियाओं में संवैधानिक मूल्यों को लेकर जिस तरह के विरोधाभास हैं, उनको कम करने में स्कूल बड़ी भूमिका निभा सकते हैं और निभाते भी हैं। स्कूलों में अभी अधिकांशतः किताबों की मदद से मूल्यों पर बातचीत होती है। छत्तीसगढ़ में 6वीं, 7वीं और 8वीं कक्षा में योग और नैतिक शिक्षा की पूरक पाठ्यपुस्तकें हैं। अन्य राज्यों में भी इसके लिए कुछ प्रक्रियाएँ होंगी। मेरी स्कूली शिक्षा में भी ऐसा ही था। कहीं-कहीं मूल्यों के लिए अलग से सत्र होते हैं। यह भी होता है कि एक बोर्ड पर 'थॉट ऑफ़ द डे' लिखा जाता है। लेकिन यह अर्थपूर्ण नहीं हैं, इनसे कोई समझ नहीं बनती। इनसे यह भी परिलक्षित होता है कि इन मूल्यों पर अर्थपूर्ण काम करने के लिए ख़ास कोशिश की, तैयारी की ज़रूरत तो है ही!

इसमें यह भी ज़रूरी है कि हमारी ख़ुद की मूल्यों के प्रति समझ क्या है, उसे हम कैसे आर्टिकुलेट करते हैं और मूल्यों की प्रकृति को कैसे समझते हैं। पाठ्यपुस्तकें इस बात को स्थापित करती हैं कि रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में मूल्यों के लिए उपदेशात्मक होना पड़ेगा, किस कहानी से क्या शिक्षा मिलती है, बताना होगा। शिक्षक की तैयारी के लिए इन सभी परिस्थितियों के बारे में, और तब पढ़ाने के तरीक़ों के बारे में सोचना होगा। जैसे– क्या मूल्यों की कक्षा में ही मूल्य पढ़ाए जा सकते हैं? क्या नियमित विज्ञान की कक्षाओं में, जल प्रदूषण पढ़ते हुए, या इतिहास की कक्षाओं में मूल्य की बात नहीं हो सकती? जब कला, खानपान, संस्कृति के पहलुओं की बात है तब ये मूल्य हैं या नहीं? मुझे लगता है कि संवैधानिक मूल्यों को पूरे पाठ्यक्रम

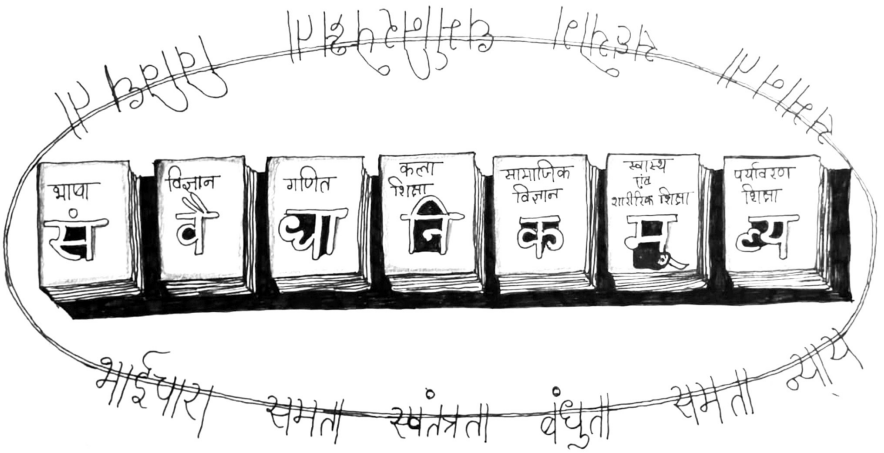

चित्र 11: हीरा धुर्वे

में देखने की ज़रूरत है। इसके लिए अलग से सत्र या उपदेश से काम नहीं होगा। और शिक्षक की तैयारी भी ऐसी करनी होगी।

यह भी देखने की ज़रूरत है कि हम अपने स्कूल के लिए सीखने-सिखाने की कैसी प्रक्रियाएँ चाहते हैं, स्कूल की संस्कृति कैसी चाहते हैं और इनके साथ विषयों का शिक्षण, इन सभी के प्रकाश में संवैधानिक मूल्यों की बात करेंगे तब ही जाकर ये कुछ मुक़म्मल शक्ल लेता है कि हमारे शिक्षकों की हमारे स्कूल की क्या तैयारी होनी चाहिए।

रजनी : अभी शिक्षक किस तरीक़े से पढ़ा रहे हैं?

मयंक : यहाँ, छत्तीसगढ़ में, यह काम हो रहा है कि स्कूल, एक संस्थान के तौर पर, संवैधानिक मूल्यों पर कैसे काम कर सकता है और बच्चों में कैसे इनको विकसित कर सकता है। इस साल लगभग 250 शिक्षकों के साथ बातचीत हुई है।

मूल्यों के विकास की सबसे बुनियादी शर्त है कि स्कूल का माहौल, संस्कृति ऐसी हो जो स्कूल में पढ़ने वाले बच्चों, शिक्षक, जुड़े हुए समुदाय, सभी को उनकी शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक स्वास्थ्य को सुनिश्चित करने में मदद कर सके। दूसरी विविधता, उससे जुड़ी धारणाओं, प्रेक्टिसेस को समझने की जरूरत है। जैसे स्कूल में यदि कुछ ख़ास काम को कुछ ख़ास बच्चे ही करते हैं तो न सिर्फ़ सोचने, बल्कि दख़ल देने की ज़रूरत है। साथ ही, स्कूल में ऐसी प्रक्रिया सुनिश्चित करने की ज़रूरत है ताकि इन आयामों को न्यूट्रलाइज़ किया जा सके।

ये मूल्य, कक्षा में पढ़ाए जाने के दौरान समूह बनाना, दिए गए टास्क की प्रकृति, शिक्षक व बच्चों की अन्तःक्रिया, मूल्यांकन का तरीक़ा, सभी में परिलक्षित होते हैं। अकसर स्कूल व कक्षाओं में हम पाते हैं कि कुछ ही बच्चों पर फ़ोकस होता है। हमारे साथ स्कूल में काम करने वाले साथियों के पूर्वाग्रहों से तय होता है कि कौन-सा बच्चा किस तरीक़े के कपड़े पहनकर आता है, साफ़ सुथरा है, वग़ैरह-वग़ैरह। शिक्षकों, स्कूल के सदस्यों के पूर्वाग्रह भी स्कूल की नियमित कार्यप्रणाली में बाधा डाल सकते हैं इस बारे में सचेतता ज़रूरी है। इसी तरह, एक सबसे बड़ी बात लगती है, स्कूल को अपने हर एक एफ़र्ट और उसके होने वाले इम्पैक्ट के बारे में कम्युनिटी के बीच अपनी बात रखने की भी ज़रूरत है।

रजनी : यदि आप बता सकें, शिक्षक क्या-क्या कर रहे हैं?

मयंक : एक बात मैं रेखांकित करना चाहूँगा कि इन मूल्यों को एक जल्द होने वाले ट्रांसफ़ॉर्मेशन के तौर पर नहीं देखना चाहिए। अगर स्कूल में जाति, धर्म को लेकर मेरी कुछ मान्यताएँ हैं तो इन्हें तुरन्त एड्रेस करने की ज़रूरत नहीं है। शिक्षकों से बात करके समझ आया कि इनको ध्यान में रखते हुए कक्षा प्रक्रियाओं में इन चर्चाओं की जगह बनाने की ज़रूरत है। जिन स्कूलों में इसपर काम हो रहा है वहाँ प्रार्थना सभा में अब रोटेशन प्रक्रिया है। एसेम्बली में खड़े होने का क्रम, मिड-डे मील में पंगत लगाने का क्रम बदला है। कई स्कूलों ने सुनिश्चित किया कि अब बच्चे लाइन लगाकर खाना नहीं लेंगे। बच्चे बैठेंगे और रसोइए उनके पास पहुँचकर उनकी थाली में खाना सर्व करेंगे ताकि वो गरिमापूर्ण भी हों और नुकसान भी कम हो। इस तरह, दोनों तरीक़े की उसमें बातें दिखाई देंगी। ऐसे क़दम हैं जो हर एक स्कूल उठा सकता है। फिर कहूँगा कि हर जगह संवाद बहुत ज़रूरी है। मैं जिस स्केल से सामाजिक विविधता को मापने की कोशिश कर रहा हूँ वह मेरी बनाई हुई स्केल है। सामाजिक वास्तविकता उस स्केल से कहीं ज़्यादा फ़र्क़ हो सकती है तो मैं हर किसी को उस स्केल से माप नहीं सकता।

रजनी : स्कूल में क्या हो रहा है, क्या किया जा सकता है, इसपर आप में से कोई कुछ जोड़ना चाहे?

महमूद : मयंक ने जो कहा, उससे सहमति है। प्रार्थना सभा, मिड-डे मील, कक्षा प्रकियाओं को बदला जा सकता है। जो और होना चाहिए वो ये कि हम रोज़ होने वाली ऐसी घटनाओं को क्या कक्षा विमर्श का हिस्सा बना सकते हैं। हॉस्पिटल में यदि किसी को बेड की ज़रूरत पड़ती है तो वो पूछता है क्या कि आपकी जाति क्या है, धर्म क्या है? ब्लड बैंक से ब्लड लेते हुए क्या कोई ऐसी बात करता है या ट्रेन खचाखच भरी हुई है या बस खचाखच भरी है और एक सीट ख़ाली नज़र आती है, आप दौड़कर जाते हैं। क्या आप पूछते हैं कि कौन बैठा है वहाँ पर? अगर वहाँ नहीं पूछते हैं तो बाक़ी ज़िन्दगी में ये बातें रोज़ क्यों करते हैं? कुछ इस तरीक़े की चीज़ों, लगातार इस तरीक़े के संवाद से गुज़ारेंगे तो शायद उन चीज़ों में थोड़ा परिवर्तन की तरफ़ हम बढ़ पाएँगे।

रजनी : मूल्यों के विकास के लिए शिक्षक स्कूल में किस-किस तरह की कोशिशें कर रहे हैं?

अब्दुल : आज एक स्वीकार्यता समाज में दिखती है। अधिकांश लोग इस सोच के साथ हैं कि महिलाओं के प्रति हिंसा और दूसरे धर्म के प्रति घृणा न हो। शिक्षक भी सामग्री के चुनाव को लेकर, सवालों को लेकर सचेत रहते हैं कि कैसे सवाल कक्षा में पूछे जा सकते हैं। जैसे– शिक्षक

चित्र 12 : हीरा धुर्वे

जानते हैं कि "आज तुमने खाने में क्या खाया" यह पूछने से चर्चा हो सकती है लेकिन साथ ही इसको संवेदनशीलता से डील करना होगा। मैं ऐसे कई शिक्षकों को जानता हूँ, जो ऐसे मुद्दों पर कक्षा में बातचीत करना जानते हैं। एक कक्षा में एक बच्चे ने बहुत स्टाइल से बाल बनाए थे। स्कूल के कुछ सदस्यों का मानना था कि ये तो अजीब हैं। उन्होंने कहा कि नहीं, बाल रखना इस बच्चे की अपनी एक च्वॉइस है लेकिन साथ ही हमें स्कूल के नियमों को भी ध्यान रखना है। इस मुद्दे पर कक्षा में चर्चा हुई। ज़रूरी है कि कक्षाओं में ऐसी चर्चाओं के लिए भी जगह हो। कक्षा में आने वाला बच्चा किस समुदाय से है उसके साथ जुड़ना, बात करना ज़रूरी है।

मृत्युंजय : कई बार लगता है कि कई सामाजिक, धार्मिक या नैतिक मूल्य हमारे संवैधानिक मूल्यों का आधार होते हैं और कई बार नहीं भी होते हैं। अगर कक्षा में, स्कूल में, पाठशाला के भीतर ऐसी कोई समस्या आए जो मान लीजिए नैतिक मूल्य है, सामाजिक मूल्य भी है, लेकिन संवैधानिक मूल्यों से कहीं वे टकरा सकते हैं या उनको सपोर्ट कर सकते हैं तो पढ़ाते हुए या कक्षा में जाते हुए इस अलगाव से कैसे जूझते हैं?

चित्र 13

अमन : मैं दो-तीन चीज़ों को समेटने की कोशिश करूँगा, साथ ही कुछ और भी नज़रिए सामने रखूँगा। शुरू में सवाल उठ रहा था कि समाज में लोग कुछ और कर रहे हैं, कुछ और बोल रहे हैं तो इसका मतलब क्या है? यह नज़रिया सामने रखा था कि असल में स्कूल का काम ही यही है कि जो बातें लोग घरों में नहीं सीख पा रहे हैं वो स्कूल सिखाएगा। अगर बच्चे घर से ही वो मूल्य और मान्यताएँ सीख रहे हैं तो स्कूल की क्या ज़रूरत है? स्कूल का काम, स्कूल का धर्म यही है कि वो उन बातों को सिखाएगा जो बच्चे घर पर नहीं सीख सकते।

अगला सवाल ये उठता है कि स्कूल ये बातें क्यों सिखाए? इसका आधार भी चर्चा में निकलकर आया कि असल में ये समाज बदल रहा है। कई बातें तो बहुत पहले से ही कवियों, ज्ञानी लोगों ने कही हैं कि सब इंसान एक बराबर हैं, लेकिन लोगों ने उसको व्यवहार में नहीं लिया। न व्यवहार ऐसे किया, न संविधान ऐसे बनाए, न राजाओं ने ऐसी प्रथा चलाई। लेकिन जब लोग शुरू से यह कह रहे हैं तो फिर अब क्यों संविधान ऐसे बने? हम सब जानते हैं कि समाज बदल रहा है, बहुत ज़बरदस्त तरीक़े से बदल रहा है। अब ये बात बहुत सारे लोगों को फ़ायदेमन्द लगती है कि जब हम असल में एक जैसे ही हैं तो हम एक साथ काम कर सकते हैं, हम एक साथ एक देश बना सकते हैं। हमको, यदि हम सब एक जैसे हैं, एक दूसरे का सम्मान भी करना पड़ेगा और एक दूसरे को समान भी मानना होगा। इन मूल्यों का आधार ये बदलता हुआ समाज है। इस बदलते हुए समाज में कुछ हिस्से बदल रहे हैं, कुछ नहीं। क्या सारा समाज इस तरह से बदल जाएगा? पता नहीं! लेकिन एक बदलते हुए परिवेश के कारण ये मूल्यों का टकराव हो रहा है। हमारे साथियों ने भी रेखांकित किया कि ये कई तरह के मूल्य हैं और आपस में टकरा रहे हैं। क्या ये विरोधाभास कभी भी हल होगा? शायद कभी भी नहीं! और विरोधाभास अच्छा है क्योंकि इसमें हम सोचते हैं। सवाल ये भी था कि क्या समाज इन मूल्यों के विकसित होने में अड़चनें डालता है, या वह स्कूल को इस तरह के मूल्यों के विकसित होने में सपोर्ट करता है? स्कूल दोनों

करता है। समाज का एक हिस्सा अड़चनें डाल रहा है। एक हिस्सा कह रहा है कि अरे बदलो, नहीं बदलोगे तो देश कैसे चलेगा! अगर हम यही सोचते रहेंगे कि लड़कियों को फ़लाँ काम ही करना है और लड़कों को ये ही काम करना है तो कुछ भी विकासशील कामों के लिए हमने आधी आबादी छोड़ दी। इसी तरह, ये समुदाय यह काम करेगा, उस समुदाय को हम नौकरी नहीं देंगे, इस सबमें देश का नुक़सान ही है। ये अलग-अलग हिस्से हैं देश के, जिससे जूझ रहे हैं।

कई बार इन मूल्यों को लेकर भ्रम होता है, ग़लतियाँ भी होती हैं। लेकिन ऐसा समाज बनाने की कोशिश संविधान ने की है, जो शायद ज़्यादा अच्छे से काम करेगा, ज़्यादा लोगों को ख़ुशी और मौक़ा देगा और इसी में लोगों की ज़्यादा ख़ुशी होगी। ये भी एक सवाल उठा था कि मूल्यों को देखें कैसे? देखने का एक तरीक़ा तो ये है कि बदलते हुए समाज के ये जो नए हिस्से बन रहे हैं ये उनके मूल्य हैं। मैं भौतिकी से उदाहरण देता हूँ। भौतिकी में हम जानते हैं कि दुनिया ठोस है, हिल रही है। फिर हम बल, ऊर्जा की अवधारणा की बात करते हैं। ये इस जटिल दुनिया को समझने में मदद करते हैं। यही काम इन मूल्यों का है। हमारा व्यवहार कुछ और है, लेकिन जब हम इन मूल्यों की नज़र से इस व्यवहार को देखते हैं तो पाते हैं कि क्या फ़लाँ व्यवहार सही है, फ़ायदेमन्द है। कई बार इसका जवाब आसान नहीं है। मेरे आसपास जातीय समाज है और मैं जातीय समाज की अवधारणाओं के साथ चलता रहूँ तो कोई मेरी पिटाई नहीं करेगा, लेकिन जातीय समाज के विरुद्ध जाने पर लोग मेरे साथ लड़ेंगे। मगर ये वही देश है जिसमें लोग फ़ैक्टरी, दफ़्तर, दवाख़ाने में एक साथ काम करते हैं। वहाँ जातिवाद नहीं चल सकता। सबको एक साथ एक ही मशीन को हाथ लगाकर काम करना है। मूल्यों पर बातें करना इसलिए भी ज़रूरी है क्योंकि ये हमारे समाज की गहराइयों को सामने लाकर इनपर सोचने व उनको समझने का मौक़ा देती हैं। यह भी कि सिर्फ़ परिभाषाएँ बच्चों को सिखाने से गाड़ी बहुत आगे नहीं जाती। इसका ये अर्थ नहीं है कि परिभाषाएँ नहीं सिखाएँ, ज़रूर सिखाएँ लेकिन वो अपने-आप में पर्याप्त नहीं हैं। कई तरह के उदाहरण अपने रोज़मर्रा के व्यवहार / कामों में लाने होंगे। इनके पीछे के शिक्षणशास्त्रीय उसूलों को भी समझने की कोशिश करनी होगी। दो-तीन बातें महत्त्वपूर्ण हैं। लोगों / बच्चों को महसूस होना चाहिए कि इस तरह के मूल्यों से कुछ फ़ायदा है। अगर ये लगता है कि इस तरह के मूल्यों को अपनाकर मेरा तो नुक़सान है, तो लोग क्यों अपनाएँ! स्कूल में इस तरह परिस्थितियाँ सामने लाने की ज़रूरत है, जिनसे लगे कि समानता के मूल्य से फ़ायदा है। और सिर्फ़ यह कहने से, कि फ़ायदा है, काम नहीं होगा। मुझको बार-बार दर्शाना पड़ेगा, तो परिस्थितियाँ बनानी होंगी तब सीख सकते हैं। आपने ऐसे उदाहरण दिए हैं। यह भी कि इस बारे में न सिर्फ़ सोचना (जो संज्ञानात्मक है) बल्कि एक दृष्टिकोण (attitude) भी विकसित करना होगा। मूल्य सिर्फ़ सोच ही नहीं हैं (संज्ञानात्मक) ये भावनाएँ, दृष्टिकोण,

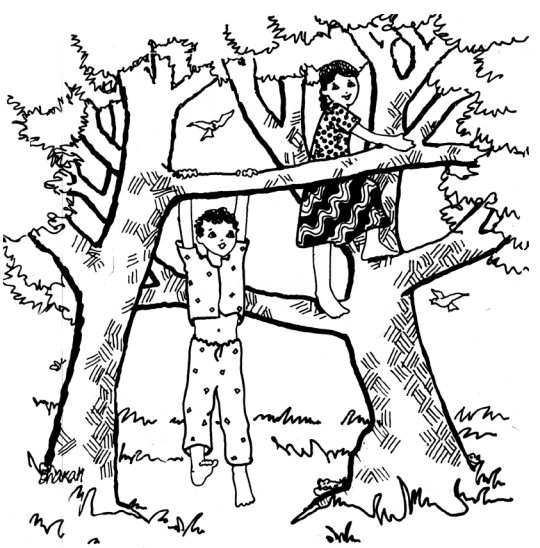

चित्र 14

एहसास, व्यवहार सब हैं। अतः मूल्य की महज़ अवधारणा को समझना काफ़ी नहीं है, ये दिल से महसूस होना चाहिए। जो भी गतिविधियाँ बनानी हैं वो ऐसी हों कि उनसे ऐसे दृष्टिकोण और भावनाएँ बनें जो सीखने वालों को जातिवादी, लिंगभेदी समाज की ख़ामियों को पहचानने में मददगार हो। अवधारणा की भूमिका, इतिहास की भूमिका भी है, इस समझ की भी जरूरत है कि विभिन्न अवधारणाओं के बीच क्या जुड़ाव है? जैसे– विविधता और भेदभाव। साथ-साथ व्यवहार को बदलने के लिए हमारे जो पैटर्न हैं उनपर काम करने की आवश्यकता है। यह एक बड़ी चुनौती है। लेकिन मैं यह भी कहूँगा कि जब शिक्षक किसी चीज़ को एक बार समझ लेते हैं तो वो ज़्यादा अच्छे से उसके एप्लीकेशन बना लेते हैं। उनके अपने परिवेश में क्या प्रभावी होगा, नहीं होगा, उन्हें अच्छे से मालूम होता है। लेकिन क्या हम मदद कर सकते हैं ताकि उनके पास दस उदाहरण आ जाएँ जिनमें से वो चयन कर सकें। उदाहरणों के पीछे तर्क क्या है वो उनको और ज़्यादा अच्छे से पकड़ में आ जाए, हम इस दिशा में शायद काम करते रहेंगे तो कुछ होगा इसमें।

चित्र 15

मृत्युंजय : इस समय राजनैतिक तार्किकता बढ़ रही है। इसमें कई बार हम लोग निरुत्तर हो जाते हैं और हमारे पास जो तर्क है तथ्यात्मक भी है और तार्किक भी, उसके बावजूद भी सामने वाला सुनना ही नहीं चाहता, समझना ही नहीं चाहता तो फिर हम क्या करें? ऐसी स्थिति में मौन रहना भी ठीक नहीं लगता और अपनी बात भी रखते हुए हमें लगता है कि हमारी बात समझी नहीं जा रही है। अन्ततः नुक़सान बच्चों का होता है और फिर वो बच्चे भी उसी धारा में चलने लगते हैं। इसपर आप ज़रूर बताएँ।

चित्र 16

अमन : बहुत बड़ा सवाल है ये। यह मसला दुनिया के सभी देशों में है कि कई बार समझदार लोग भी सुनने को तैयार नहीं होते। समाज मनोविज्ञान में काम करने वाले इसका यह तर्क देते हैं कि ऐसे लोग यह सोचना शुरू कर देते हैं कि हम दूसरे गुट के लोग हैं। और उन्हें जो भी कहा जा रहा है असल में उनको या उनके दोस्तों को

बेइज़्ज़त करने के लिए कह रहे हैं। जैसे ही वो ये भाँपते हैं, आप कुछ भी कहेंगे वो नहीं सुनेंगे। इसका इलाज क्या है? इसके इलाज दो तरह के हैं। पहला तरीक़ा है, कही जाने वाली बात को मुद्दे पर फ़ोकस करना। ऐसा पढ़ाना सही है कि नहीं? क्या सरकारी स्कूलों का सुधारना, उनको ज़्यादा पैसा देना ज़रूरी है? दूसरा तरीक़ा है अपनेपन के दायरे को बड़ा करना। उनको लगे, कि मैं भी उन्हीं के गुट का हूँ तब सुन सकते हैं तो इसके लिए भी मुझे बहुत कुछ करने की आवश्यकता है। अब्दुल ने भी उसका उदाहरण दिया था। जब मैं अलग-अलग समुदाय, अलग-अलग जाति, धर्म और जेंडर के बच्चों को एक साथ बिठाता हूँ और समानता व असमानता की परिस्थितियों में बिठाता हूँ तब समस्या आती है। लेकिन जब साथ में खेल खेलते हैं या कोई गतिविधि करते हैं जहाँ आपस में एक दूसरे को उनकी ज़रूरत भी पड़ती है तब वो आपस में दोस्त बनना शुरू होते हैं और तब उनका अपनेपन का दायरा बढ़ने लगता है। ऐसे ही कुछ चीज़ें करूँ जिनसे लगे कि हम लोग एक ही साथ हैं। फिर बात करने पर वे सुनते हैं। लेकिन तब भी मैं उनके सम्माननीय लोगों पर सीधा हमला करके बात करूँगा तो वे कभी नहीं सुनेंगे। बहुत बाद में जब हम लोग एक साथ काम कर रहे हों तब यह बात की जा सकती है कि क्या वाक़ई वह व्यक्ति सम्माननीय है और उसपर आया जा सकता है।

चित्र 17 : हीरा धुर्वे

अब्दुल : कई बार हम संवैधानिक मूल्यों और मानवीय या धार्मिक मूल्यों को अलग करके देखते हैं। लेकिन मुझे लगता है कि इनमें बहुत-सी समानताएँ हैं। जैसे परोपकार की बात है, यह संवैधानिक मूल्य भी है और मानवीय व धार्मिक मूल्य भी। मुझे लगता है, बच्चों के साथ संवाद में इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए। हमने संवैधानिक मूल्यों को धार्मिक और सामाजिक मूल्यों से हमेशा अलग करके देखने की कोशिश की, इसकी वजह से भी शायद हम कक्षा की की तैयारी उस तरह से नहीं कर पाते शायद, मैं इस द्वन्द्व में कई बार रहता हूँ।

आप सभी का इस संवाद में भाग लेने के लिए शुक्रिया।

1. चित्र 2 एनसीईआरटी, नई दिल्ली की पुस्तक *आओ खेल-खेलें* से साभार।
2. चित्र 5, 10 एवं 14 नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली की पुस्तक *बच्चों के लिए खेल क्रियाएँ* से साभार।
3. चित्र 6, 9 व 13 इंटरनेट से साभार।
4. चित्र 8 विकास संवाद प्रकाशन, भोपाल की पुस्तक *संविधान और हम* से साभार।